सामन्तवाद

प्राचीन भारतीय सभ्यता-संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता सामन्तवादी व्यवस्था है। भारत का राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन इससे काफी प्रभावित था। सामन्तवाद की परिभाषा विद्वानों ने विभिन्न तरह से दी है। विशप स्टब्स (Bishop Stubes) के शब्दों में, "भूमि के स्वामित्व के माध्यम से सामन्तवाद समाज का एक पूर्ण संगठन है जिसमें राजा से लेकर भूमिपतियों तक सारे लोग सेवा-संरक्षण की शर्तों से एक-दूसरे से बँधे हैं।" मेयर ((Myer) के शब्दों में, "सामन्तवाद समाज और सरकार का एक विशेष रूप था जो भू-धृति पर आधारित था।"[1] सामन्तवाद में तीन मुख्य बातें थीं—भूमि, संरक्षण और सम्प्रभुता। इसमें भूमि का हस्तांतरण होता था। भूमि देने वाले और लेने वाले के बीच सेवा और रक्षा के आधार पर व्यक्तिगत सम्बन्ध होता था तथा देने वाले को पूर्ण अथवा आंशिक रूप में लेने वाले पर सम्प्रभुता का अधिकार प्राप्त होता था।

मौर्योत्तर काल विशेषकर गुप्तकाल में कुछ राजनीतिक तथा प्रशासनिक तत्वों ने सामंतवाद को जन्म दिया। इस काल में ब्राह्मणों को भूमिदान दिया जाने लगा। धर्मशास्त्रों तथा पुराणों में ब्राह्मण को भूमिदान देने की अनुशंसा है। महाभारत के अनुशासन पर्व में भूमिदान प्रशंसा पर पूरा एक अध्याय है। पूर्व मौर्यमालीन पालि ग्रन्थों में कोशल तथा मगध नरेशों द्वारा ब्राह्मणों को ग्रामदान देने का उल्लेख है। ई० पू० पहली शताब्दी के एक सातवाहन अभिलेख में अश्वमेध यज्ञ के उपहार-स्वरूप एक ग्रामदान का उल्लेख है। किन्तु, इसके साथ दाता (doner) का दान दी गई भूमि से प्रशासकीय अधिकार समाप्त नहीं होता था। सर्वप्रथम सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र सातकीर्ण ने 200 ई० में कुछ बौद्ध भिक्षुओं को भूमिदान देकर उसने अपने प्रशासकीय अधिकार भी त्याग दिये। दान में प्रदत्त भूमि में शाही सेना प्रवेश नहीं कर सकती थी तथा सरकारी अधिकारी या स्थानीय पुलिस कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी। अतः ऐसे दान की दो विशेषताएँ थीं - भू-राजस्व के सभी स्रोतों का हस्तांतरण तथा पुलिस एवं प्रशासकीय कार्यों का समर्पण। गुप्त-काल में इन विशेषताओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं। दाता और आदाता (donee) के बीच भूमि कड़ी का काम करने लगी। ब्राह्मणों को ग्राम दान में दिया जाने लगा। वे वहाँ के शासक बन गए। सरकारी अधिकारियों या सर्वाध्यक्षों को वहाँ किसी भी तरह हस्तक्षेप नहीं करने के आदेश दिए गए। 5वीं शताब्दी के अभिलेखों से पता चलता है कि आदाता को अपने क्षेत्र में सभी तरह के प्रशासकीय अधिकार भी दिए गए। मध्य और पश्चिमी भारत में कुछ शाही दाताओं ने दान में प्रदत्त गाँवों में आदाताओं को न्यायिक अधिकार भी दिए। उनके दानों में 'अभ्यन्तरासिद्धी' शब्द प्रयुक्त है। उत्तर भारत के दानों में इसके लिए 'सदंड दसापराध' शब्द प्रयुक्त है।

राज्य के सप्तांग सिद्धांत में कोष और सेना को प्रधान अंग माना गया है। इनके त्याग से राज्य का विघटन हो जाता है। सामन्तवाद में ऐसा ही हुआ। राजा जागीरदार को स्थायी तौर से जागीर (fief) देने लगा। इससे राज्य का विघटन शुरू हो गया और अनेक छोटी-छोटी जागीरों में विभक्त हो गया। यह प्रक्रिया मौर्यों के पूर्व ही शुरू हो गई थी। कौटिल्य ने ब्रह्मदेव धृति के अनुसार नई बस्तियों में भूमि-दान की संस्तुति की है। गुप्त-काल में ब्राह्मण जमींदारों का उदय हुआ। वे स्वतंत्र शासक की भाँति आचरण करने लगे। दाताओं के चाहे जो भी इरादे रहे हों, किन्तु इन अनुदानों के फलस्वरूप शक्तिशाली बिचौलियों (intermadiaries) का जन्म हुआ जिन्हें काफी आर्थिक तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। ब्राह्मण जमींदारों की संख्या बढ़ती गई। इनमें से कुछ पुरोहित का काम छोड़कर जमींदारी की देखभाल करने लगे। मौर्य-काल की केन्द्रीकरण की भावना ने गुप्त-काल में विकेन्द्रीकरण को जन्म दिया। करों की वसूली, बेगार श्रम का उपयोग, खदानों का विनियमन, कृषि आदि पहले जो काम सरकारी कर्मचारियों द्वारा किए जाते थे, वे अब ब्राह्मण जमींदारों तथा बाद में क्षत्रियों व राजपूत जमींदारों द्वारा किए जाने लगे।

गुप्त-काल में सामन्तीकरण (infeudation) की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं हुई थी। आदाताओं को जो जागीर दी जाती थी, वह उनके उपयोग के लिए दी जाती थी। वे उसका हस्तान्तरण नहीं कर सकते थे। ब्राह्मणों को जो भूमि दान में दी जाती थी, इसके बदले उन्हें दाताओं तथा उनके पितरों की आध्यात्मिक उन्नति के लिए धार्मिक कर्मकांड करने पड़ते थे। केवल वाकाटक नरेश प्रवरसेन द्वितीय के चमक में प्राप्त ताम्र अभिलेख से पता चलता है कि ब्राह्मणों को कुछ ऐहिक कर्तव्यों का पालन भी करना पड़ता था। इसमें कहा गया है कि वे राजा या राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र नहीं करेंगे, युद्ध नहीं करेंगे, आदि। ये ब्राह्मण जागीरदार अपने-अपने क्षेत्रों में कानून-व्यवस्था बनाए रखते थे तथा लोगों से वर्णाश्रम धर्म का पालन करवाते थे।

मौर्यकाल में सैनिक और असैनिक अधिकारियों को उनकी सेवा के बदले नकद वेतन मिलता था। ये अधिकारी पाँचग्रामी, दसग्रामी, गोप, स्थानिक और समाहर्ता थे। समाहर्ता को नकद वेतन दिया जाता था, किन्तु नई बस्तियों में गोप और स्थानिक को जागीर दी जा सकती थी। उच्चतम वेतन प्रतिमाह 4,800 पण और न्यूनतम 60 पण था। मनुस्मृति में जागीर देने की अनुशंसा है। पाल अभिलेखों में ग्रामपति (ग्राम का मुखिया), दसग्रामपति (दस गाँवों का मुखिया) आदि वित्त अधिकारियों का उल्लेख है। ये कर वसूल करते थे। इसकी पुष्टि चीनी पर्यटक फाहियान के वृत्तान्त से हो जाती है। वह लिखता है, "सरकार उदार है, सरकारी अधिकारियों की आवश्यकता कम है तथा परिवारों का पंजीकरण नहीं होता है।" इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि सरकार लोगों से कर वसूल करने का काम स्वयं नहीं करती थी। इसके लिए बिचौलिये थे। राज्य के सामन्तीकरण का यह एक उदाहरण माना जा सकता है।

गुप्तोत्तर काल में अधिकारियों को नकद वेतन की जगह जागीर दी जाने लगी। 7वीं सदी में चीनी तीर्थयात्री ह्वेनसांग भारत आया था। उसने लिखा है कि गवर्नरों, मंत्रियों तथा अधिकारियों को नकद के बदले जागीर दी जाती थी। इन उच्च अधिकारियों में प्रमात्र, राज-स्थानीय, उपरिक और विषयपति थे। इस प्रकार, हर्ष के काल में न केवल ब्राह्मणों तथा विद्वानों, अपितु उच्चाधिकारियों को भी जागीरें दी जाती थीं। इसकी पुष्टि इस काल में सिक्कों की दुर्लभता से हो जाती है। मुंशी व दवीर को धार्मिक उद्देश्यों के लिए जो ग्राम दिया जाता था, उसे अग्रहार कहते थे। वहाँ के निवासियों को उसे भाग, भोग, कर व हिरण्य देने के लिए कहा जाता था। ये मुंशी लोगों से मनमाना कर वसूलते और अपनी जेब भरते थे। लगभग 507 ई०

में वर्द्धमान भुक्ति (प्रांत) का शासक विजयसेन था जो महाराजाधिराज श्रीगोपचन्द्र का सामंत था। उसे भोगपतिक भी कहा गया है जो सम्भवतः एक जागीरदार था। कुछ भोगपति ग्रामीणों को सताते थे। हर्षचरित में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। हर्ष के समय एक अन्य सामंत अधिकारी महाभोगी था। इसकी पुष्टि उड़ीसा के शिलालेख से होती है। सर्वप्रथम गुप्तकाल में यह सामंती विचार सामने आया कि भू-स्वामी का वास्तविक उपभोक्ता होता है। कालान्तर में अमात्य, कुमारामात्य सामंती पदवियाँ बन गईं। किन्तु गुप्तकालीन उपरिक, कुमारामात्य एवं विषयपति को हम स्वतंत्र सामंत नहीं कह सकते। 6ठी शताब्दी के मध्य से कुमारामात्य स्वतंत्र सामंत की तरह व्यवहार करने लगा। 7वीं सदी के बाद अधिकारियों को आलंकारिक सामंती पदवियों से विभूषित किया जाने लगा। उदाहरणस्वरूप भास्करवर्मन के कोषाध्यक्ष (भांडागाराधिकृत) दिवाकर प्रभा को महासामंत की उपाधि दी गई। हर्षवर्द्धन के अधिकारी भी महासामंत कहलाते थे।

यह उल्लेखनीय है कि गुप्तकाल के राजा द्वारा नियुक्त गाँव के मुखिया सहसामंती अधिकारी की तरह थे। इन्हें ग्रामाधिपति आयुक्त कहते थे। वे लोगों से अपने लाभ के लिए बेगार भी लेते थे। गुप्तकाल में एक नए ढंग के गाँव का उदय हुआ जहाँ राजसी कृपापात्र रहते थे। पुराणों में कहा गया है कि ऐसे गाँवों में दुष्ट और शक्तिशाली लोग रहते थे जिनकी अपनी जमीन-जायदाद नहीं थी, बल्कि दूसरे की जमीन-जायदाद पर गुजर-बसर करते थे। इन राजसी कृपापात्रों को बिचौलियों की संज्ञा दी जा सकती है जो सामंतवाद के राजनीतिक विकास में सहायक साबित हुए।

5वीं शताब्दी में दक्षिण भारत में 'सामन्त' शब्द का व्यवहार जागीरदार के लिए होता था। पल्लव-नरेश शांतिवर्मन (455-70) के एक अभिलेख में 'सामन्त चूड़ामणि' (The best among feudataries) शब्द का व्यवहार किया गया है। उसी शताब्दी के अंत में दक्षिणी और पश्चिमी भारत में इसका उपयोग सामन्त के लिए किया गया है। बारबारा गुफा (गया) अभिलेख में मौखरी अनन्तवर्मन के पिता को भी 'सामंत चूड़ामणि' कहा गया है। यह अभिलेख 500 ई० का है। इस समय मौखरी गुप्त सम्राटों के सामन्त थे। मन्दसोर शिलालेख से पता चलता है कि यशोधर्मन (525-35) ने सम्पूर्ण उत्तर भारत के सामंतों को अपने अधीन कर लिया था। 6ठी शताब्दी में वल्लभी के शासकों की उपाधियाँ सामंत-महाराजा तथा महासामंत की थीं। बाद में 'सामंत' शब्द का प्रयोग राजकीय अधिकारियों के लिए भी किया जाने लगा। हर्षवर्द्धन के भूमिदानों में सामंत-महाराजा एवं महासामन्त पदवियों का व्यवहार किया जाने लगा। समुद्रगुप्त के जागीरदारों के लिए 'सामन्त' शब्द का व्यवहार नहीं किया गया है। प्रयाग प्रशस्ति में उनके कर्तव्यों का उल्लेख है। पराजित राजाओं को राजमहल में सेवा के लिए कन्याओं का उपहार (कन्योपायन), दान, सभी तरह के कर आदि देने पड़ते थे। वाणभट्ट ने हर्षचरित में सामंत के कर्तव्यों का उल्लेख किया है। सामंत द्वारा शासित प्रदेश से सम्राट सामंतों से, न कि प्रजा से कर लेता था। यह स्पष्टतः नहीं कहा जा सकता कि जागीरदार को कर-वृद्धि या कोई नया कर लगाने का अधिकार था या नहीं। किन्तु, वे अपनी जागीर के राजकीय करों के लिए उत्तरदायी थे। सामंतों के विहित कर्तव्यों में वार्षिक कर का भुगतान, स्वयं राजा के पास जाकर श्रद्धांजलि प्रकट करना, पंखा झलना, साष्टांग प्रणाम करना, द्वारपाल का काम करना, राजा का यशोगान करना आदि थे। हर्ष के दरबार में पराजित शत्रु सामंतों का बड़ा अपमान होता था। वे तब तक दाढ़ी बनाए रखते थे जब तक कि उसके भाग्य का कोई निर्णय नहीं कर दिया जाता था। वे राजा को सर्वदा हाथ जोड़कर प्रणाम करने को उत्सुक रहते थे।

शांतिकाल में सामंतों के प्रशासनिक व न्यायिक कार्यों का उल्लेख धर्मशास्त्रों तथा हर्ष-चरित में नहीं है। कुछ सामंत अपने अधिपति की पूर्वानुमति से भी धार्मिक अनुदान करते थे। दरबारी सामंत कुछ सामाजिक कर्तव्यों का भी पालन करते थे। वे मनोरंजन के साधनों, यथा—द्यूत, पाशा, वंशीवादन, राजा की तस्वीर बनाने, पहेलियों को सुलझाने आदि का काम करते थे। साथ ही विशेष उत्सवों में सामंतों की पत्नियाँ भी दरबार में आती थीं। इस प्रकार, सामंत सैनिक एवं प्रशासनिक ही नहीं, अपितु सामाजिक रूप से भी अपने अधिपति से बँधे हुए थे।[1]

वाण ने सामन्त, महासामन्त, आप्रसामन्त, प्रधान सामन्त, शत्रु महासामन्त एवं प्रति-सामन्त का उल्लेख किया है। महासामन्त सामन्त से बड़ा होता था। विजित सामन्तों को शत्रु सामन्त कहते थे। आप्रसामन्त वे थे जो स्वेच्छा से अपने अधिपति का प्रभुत्व स्वीकार कर लेते थे। प्रधान सामन्त राजा के अति विश्वसनीय सामन्त होते थे। प्रतिसामन्त सम्भवतः राजा का विरोधी होता था। राजकुमार भी तीन श्रेणियों में बँटे हुए थे—शत्रु महासामंत, महीपाल एवं अनुरक्त महासामन्त। इन राजाओं तथा सामन्तों का एक प्रमुख कर्तव्य अपने अधिपति की सैनिक सहायता करना था। वे सैनिक अभियानों तथा युद्धभूमि में सेना भेजते थे।

मौर्यों के पूर्व अश्व और हस्ति पर राजा का एकाधिकार होता था। मौर्यकाल में उनका यह एकाधिकार बना रहा। किन्तु मौर्येतर काल में स्थिति बदल गई। अब आम लोग भी इसे रखने लगे। इससे केन्द्रीय सत्ता का ह्रास होने लगा। गुप्तकाल में घोड़े तथा हाथी रखने वाले स्थानीय सरदार स्थानीय लोगों के स्वाभाविक रक्षक समझे जाने लगे। पहले यह काम राज्य के अधिकारी द्वारा सम्पन्न होता था। हाथियों की संख्या के आधार पर सरदारों तथा राजकुमारों की स्थिति का निर्धारण होता था। 727 ई० के एक चीनी वृत्तांत के अनुसार मध्य भारत के एक राजा के पास 900 तथा बड़े-बड़े सरदारों के पास 200 से 300 हाथी थे।

स्थानीय शक्तिशाली सरदारों के उदय से केन्द्रीय सत्ता कमजोर पड़ने लगी। ये स्थानीय सरदार राजा का विरोध करते तथा कर-वसूली में व्यवधान उपस्थित करते थे। नारद कहता है कि इन्हें 'फूट डालो और शासन करो' नीति द्वारा अर्थात् एक सरदार को दूसरे से लड़ाकर उन पर अंकुश डाला जा सकता है। नारद की इस उक्ति से प्रतीत होता है कि शक्तिशाली स्थानीय सरदार केन्द्रीय सत्ता को कमजोर कर रहे थे।

सामन्तवाद के उदय में आर्थिक तत्वों का भी हाथ रहा है। इस सम्बन्ध में हमें यहाँ देखना है कि जो भूमि ब्राह्मणों या मंदिरों को दान में दी जाती थी, उसमें खेती की जाती थी या नहीं। क्या खेती करने वाले वे थे जिन्हें जमीन दान में दी गई थी या वे अस्थायी कृषकों से खेती करवा लेते थे। 130 ई० के दक्षिण भारत के एक सातवाहन अभिलेख से पता चलता है कि कुछ बौद्ध भिक्षुओं को दान में दी गई भूमि पर खेती नहीं होती थी तो उस गाँव की बंदोबस्ती नहीं की गई थी। इससे यह स्पष्ट है कि दूसरी शताब्दी से जो गाँव दान में दिए जाते थे, वहाँ खेती-योग्य भूमि

होती थी। गुप्तकालीन भूमिदानों में खिल (khila) और अपर्हत (aparhata) शब्दों का अर्थ यह लगाया गया है कि ब्राह्मणों को बंजर भूमि दान में दी जाती थी। किन्तु सभी मामलों में यह व्याख्या उपयुक्त नहीं लगती। नारद की विधान संहिता में 'खिल' का अर्थ उस जमीन से है जिस पर तीन वर्षों से खेती नहीं की गई है। कुछ अभिलेखों से पता चलता है कि 'भूमि छिद्रायान' (follow land) या परती भूमि का दान सिंचाई सुविधाओं के साथ किया जाता था।

गुप्त और गुप्तेतर काल में भूमि-दान ने नए प्रदेशों के उपनिवेशीकरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया।[1] अर्थशास्त्र में भी भूमि-दान द्वारा बंजर भूमि के आबाद करने का उल्लेख है। गुप्तकाल में भी दान द्वारा बंजर भूमि को आबाद करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। पूर्वी भारत में लोकनाथ (650 ई०) ने एक सौ से अधिक ब्राह्मणों को आबाद करने के लिए वनभूमि दान में दिया। इसकी पुष्टि तिप्पेरा के ताम्रलेख से हो जाती है। इस तरह की भूमि को चौहद्दी परिभाषित नहीं होती थी। यहाँ कृषि-प्रणाली उन्नत न थी। ठीक इसके विपरीत आबाद जगहों में जहाँ कई गाँव अग्रहार (benefices) के रूप में ब्राह्मणों को दिए जाते थे, वहाँ कृषि-प्रणाली उन्नत थी। उदाहरण के लिए थानेश्वर के निकट श्रीकंठ जनपद की भूमि काफी उर्वरा थी। वहाँ सिंचाई का भी उत्तम प्रबंध था। अतः वहाँ गेहूँ, मूँग की उपज काफी होती थी।

दान में दी गई भूमि पर ब्राह्मण स्वयं काम नहीं करते थे। वे अर्द्धकृषकों से इस पर काम करवाते थे। राजा को कर देने वाले किसानों की संख्या में निरंतर कमी होने लगी। कारण यह था कि कुछ किसान राजा के बदले पुरोहितों, मन्दिरों, मठों या अन्य बिचौलियों को कर देने लगे। फाहियान लिखता है कि मठों को भूमि, बागवान के अतिरिक्त उन पर काम करने के लिए खेतिहर भी दिए जाते थे। 5वीं से 7वीं शताब्दियों तक मन्दिरों को काफी भूमि दान में दी गई। 6ठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गया में एक मौखरी सरदार अनंत वर्मन ने देवी भवानी के मन्दिर को एक ग्राम दान दिया था। धार्मिक और शैक्षणिक उद्देश्यों के लिए राजा द्वारा मठों को अग्रहार दिए जाते थे। उत्तरकालीन गुप्त सम्राट दामोदर गुप्त ने 6ठी शताब्दी में ब्राह्मणों को एक सौ अग्रहार या ग्राम दान में दिए। इन ग्रामों की आय से धार्मिक और शैक्षणिक केन्द्रों का खर्च चलता था। ह्वेनसांग के वृत्तांत से पता चलता है कि नालंदा विहार के पोषण के लिए 100 गाँव दान में दिए गए थे। बाद में इसकी संख्या 200 कर दी गई। कालान्तर में ये मन्दिर और मठ काफी सम्पन्न हो गए जिन पर तुर्क आक्रमणकारियों के प्रहार हुए। सोमनाथ मन्दिर और नालंदा विश्वविद्यालय इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

मिताक्षरा तथा वीर मित्रोदय की टिप्पणियों से पता चलता है कि भूमि से सम्बंधित चार तरह के लोग थे—महीपति, क्षेत्रस्वामी, कृषक एवं अर्द्धकृषक। प्राचीन भारतीय सामंतवाद की वे रीढ़ थे। कौटिल्य कहता है कि नई बस्तियों में जो भूमि कृषियोग्य है, राजा या महीपति उस भूमि को कृषक को दे। किन्तु, याज्ञवल्क्य कहता है कि महीपति उस भूमि को क्षेत्रस्वामी को दे तथा क्षेत्र-स्वामी उस भूमि को कृषक को दे। वृहस्पति की धर्मसंहिता में क्षेत्रस्वामी के स्थान पर स्वामी शब्द का प्रयोग किया गया है। राजा और भूमि के वास्तविक जोतकार के बीच स्वामी बिचौलिया होता था। कृषकों तथा शिल्पियों से भी बेगार लिया जाता था। प्रारम्भिक विधान-संहिताओं में शिल्पियों को महीने में एक दिन राजा के लिए काम करने

की अनुशंसा है। पश्चिम भारत में वणिक संघों के लिए भी शिल्पी बेगार खटते थे। इस प्रकार बढ़ई, लोहार, कुम्हार, हजाम आदि से बेगार लिया जाता था। चीनी और नील तैयार करने वालों से बेगार नहीं लिया जाता था क्योंकि उनके प्रतिष्ठानों पर कर लगता था। वात्सायान के कामसूत्र से पता चलता है कि कृषक व शिल्पी बेगार राजा के लिए नहीं, अपितु गाँव के मुखिया के लिए खटते थे। गुप्तकाल में शाही सेना या अधिकारी जिस गाँव में ठहरते थे, उसे बलात् शुल्क या आपूर्ति देनी पड़ती थी। इसकी तुलना कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित सेनभक्त कर से की जा सकती है। इसके अतिरिक्त उन्हें परिवहन के लिए पशु देने पड़ते थे। वे दौरे पर निकले शाही अधिकारियों को फूल और दूध भी भेंट करते थे। इन बलात् देयों से राज्य और सेना की आवश्यकता की पूर्ति हो जाती थी।

कभी-कभी दान में जो भूमि दी जाती थी, उसके साथ उसमें काम करने वाले किसानों का भी हस्तान्तरण हो जाता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि अर्द्ध कृषक (serf) जमीन से बँधे रहते थे। इनमें से कुछ जोतकार थे जो अपने दाता के लिए काम करते थे। अतः दो तरह के अर्द्ध कृषक थे—जोतकार एवं गाँवों में रहने वाले काश्तकार। काश्तकार अपनी उपज का कुछ भाग दाता को कर के रूप में देता था तथा अन्य दायित्वों का पालन करता था। भारतीय संदर्भ में जमीन से बँधा हुआ अर्द्धकृषक यूरोपीय खेतिहर मजदूर (serf) की तरह था। दूसरी ओर काश्तकार सहखेतिहर मजदूर की तरह थे। काश्तकार वृत्तिभोगी (beneficiary) की निजी भूमि में काम नहीं करते थे। किन्तु, वे गम्भीर आर्थिक स्थिति में गाँव छोड़कर अन्यत्र जीविकोपार्जन के लिए नहीं जा सकते थे। अभिलेखों से प्रतीत होता है कि दासत्व पहाड़ी क्षेत्रों से शुरू हुआ तथा बाद में देश के भीतरी भागों में फैल गया। जो पहले साझेदार थे, वे बाद में अर्द्धकृषक बन गए। 8वीं सदी के मध्य से दासत्व आम बात हो गई। ये अर्द्धकृषक मन्दिरों के निर्माण में भी लगे हुए थे। इस कथन की पुष्टि 732 ई० के एक चीनी वृत्तांत से हो जाती है। इसमें कहा गया है कि राजा, रानी, राजकुमार आदि गाँव का दान करते थे। इसके साथ उनके गाँवों में काम करने वालों का भी हस्तांतरण हो जाता था।

मौर्योत्तर और गुप्तकाल में वैश्यों को कृषक कहा गया है। शूद्र भी किसान का काम करते थे। उन्हें अधबटाई पर खेती करने के लिए दी जाती थी। ह्वेनसांग ने शूद्रों को कृषक वर्ग में रखा है। इस कथन की पुष्टि 10वीं सदी के पूर्व संकलित नरसिंह पुराण से भी हो जाती है। शूद्रों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आ गया। अब वे दास या किराये के श्रमिक (hired labour) नहीं रह गए। सामंतवाद के उदय में शूद्रों का कृषक बनना बड़ा महत्व रखता है।

सामंतवादी व्यवस्था में गाँव आर्थिक मामलों में स्वावलम्बी थे। वे अपने आवश्यकतानुसार वस्तुओं का उत्पादन कर लेते थे। इस कथन की पुष्टि इस तथ्य से हो जाती है कि गुप्तकाल से प्रयुक्त सिक्कों की दुर्लभता है। इस समय आंतरिक व्यापार का भी ह्रास हुआ। केन्द्रीय सत्ता भी कमजोर पड़ गई। अधिकारियों को नकद वेतन न देकर जागीर दी जाने लगी। धार्मिक कृत्यों के लिए भी भूमि-दान दिया जाने लगा। केवल वल्लभी के मैत्रकों के काल में कुछ सिक्के मिलते हैं। किन्तु, वस्तुतः ये गुप्तकालीन सिक्के थे। अनेक विद्वानों ने 600 से 900 ई० तक सिक्कों की दुर्भलता का उल्लेख किया है। इससे व्यापार के ह्रास तथा नगरीय जीवन के लोप होने का पता चलता है। अंतर्देशीय वाणिज्य-व्यापार के सामंतीय स्वरूप का वर्णन तत्कालीन विधान-संहिताओं में भी है। इनमें शिल्पियों तथा व्यापारियों के समष्टि निकायों के बारे में नियम भी दिए गए हैं। राजा न केवल श्रेणियों के नियमों का परिपालन करता था, अपितु उन्हें कार्यान्वित भी करता था। इसकी पुष्टि 6ठी शताब्दी से 8वीं शताब्दी के तीन आज्ञापत्रों से होती

है। सबसे प्रारम्भिक आज्ञापत्र में शराब, चीनी, नील, तेल, वस्त्र, लोहे, चमड़ा आदि वस्तुओं के व्यापार के सम्बंध में है। राज्य इन वस्तुओं के मूल्यों का विनियमन करता था तथा माप-तौल के बाटों की जाँच करता था। मौर्यकाल की भाँति वाणिज्य-व्यापार पर कठोर नियंत्रण नहीं था। वणिकों के निगमों को काफी हद तक स्वायत्तता प्राप्त थी। उन्हें अनेक तरह के देयों से भी भी छूट प्राप्त थी। वे अपने श्रमिकों के साथ स्वेच्छा से पेश आते थे। वे लुहारों, बुनकरों, नापितों, कुम्हारों तथा अन्य शिल्पियों से बेगार भी लेते थे। हाँ, यह ठीक है कि कुछ शिल्पी-सह-व्यापारी राज्य को आधे मूल्य पर अपनी वस्तुओं की आपूर्ति करते थे। कुछ को कर के बदले बेगार खटना पड़ता था। इसके अतिरिक्त व्यापारियों को अनेक सीमा-कर, शुल्क, बिक्री-कर आदि देने पड़ते थे। चालुक्य राजा भोगशक्ति के दो आज्ञापत्रों से पता चलता है कि व्यापारियों की श्रेणियों का बड़ा महत्व था। वे अपने प्रबंधन के लिए स्वतंत्र थे। भोगशक्ति के राज्य में उन्हें कोई चुंगी नहीं देनी पड़ती थी।

संक्षेपत: यह कहा जा सकता है कि गुप्त काल विशेषकर गुप्तेकर काल से सामन्तवाद की कुछ मुख्य विशेषताएँ दिखाई देती हैं। इनमें अकृष्टपूर्व तथा कृषि की जाने वाली भूमि का दान, कृषकों का हस्तान्तरण, बेगार का विस्तार, कृषकों, शिल्पियों एवं व्यापारियों की गतिविधियों पर प्रतिबंध, सिक्कों की दुर्लभता, व्यापार में अवनति, धार्मिक वृत्तिभोगियों द्वारा वित्तीय एवं दण्ड्य प्रशासन, पदाधिकारियों को नकद वेतन की जगह जागीर प्रदान करना, सामन्तों के दायित्वों में वृद्धि आदि उल्लेखनीय हैं। नए समाज में जमींदार वर्ग और अर्द्धकृषक दिखाई पड़े। जमींदार भूमि के स्वामी थे। इसी आधार पर वे किसानों से लगान वसूल करते थे। वस्तुत: जमीन किसानों के पास होती थी जिसके लिए उन्हें अनाज या नकद लगान तथा श्रम देने के लिए विवश किया जाता था। किसानों से लिए गए लगान या श्रम का उपयोग जमींदार अपने लिए करते थे। जमींदारों को राजा से भूमिदान मिलता था। वे स्वयं खेती नहीं करते थे। इसके लिए कृषक और अर्द्धकृषक थे। कृषक लगान देने के लिए धर्म और कानून द्वारा बँधे हुए थे। उनसे बलपूर्वक लगान वसूल किया जाता था। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनका शोषण होता था। सामन्तवादी व्यवस्था में धार्मिक, प्रशासनिक, सैनिक आदि सेवाओं के लिए जागीर दी जाती थी। शिल्पकारी और दस्तकारी गाँव तक सीमित हो गई। शिल्पी गाँवों बड़ी जागीरों, मन्दिर प्रतिष्ठानों आदि में काम करते थे। उपभोक्ता और उत्पादक में प्रत्यक्ष सम्बंध के कारण व्यापारियों व बिचौलियों की कोई आवश्यकता नहीं रह गई। वे केवल लौह उपकरण, तेल, मसाले आदि ग्रामीणों को उपलब्ध कराते थे।

प्राचीन भारत में जमींदार वर्ग का जन्म पूरे देश में एकसाथ नहीं हुआ। पहले तो ईस्वी सन् के प्रारम्भिक काल में महाराष्ट्र में उनका उदय हुआ। चौथी-पाँचवीं शताब्दियों में मध्य प्रदेश के अनेक भागों में भूमिदान दिए गए। पाँचवीं-छठी शताब्दियों में पश्चिम बंगाल और बंगलादेश, छठी-सातवीं शताब्दियों में उड़ीसा, सातवीं शताब्दी में असम, आठवीं शताब्दी में तामिलनाडु तथा नवी-दसवीं शताब्दियों में केरल में भूमिदान दिने गये। पहले तो बंजर भूमि तथा बाद में उर्वरा भूमि भी दान में दी जाने लगी। पंजाब में भूमिदान का उल्लेख नहीं मिलता। ह्वेनसांग के यात्रा-वृत्तांत से पता चलता है कि सातवीं सदी में हरियाणा और पंजाब में सम्पन्न शहर थे। इनमें थानेश्वर और मुल्तान के नाम आते हैं। थानेश्वर में देश के विभिन्न भागों से व्यापारी आते थे। कर्नाल जिला में पेहोवा (Pehoa) में घोड़े का व्यापार होता था। 650 से 1000 ई० तक पंजाब में सिक्के भी मिले हैं। इससे पता चलता है कि व्यापार उन्नत था तथा वस्तुओं की खरीद-बिक्री में सिक्के का प्रचलन था। सिक्के, सोना-चाँदी, ताँबा आदि मिश्रित धातुओं के थे। अत: पंजाब में व्यापारी वर्ग थे। वहाँ जागीरदारों का अभाव था। देश

के विभिन्न भागों में उन्हें भूपाल, भोक्ता, भोगी, भोगिका, भोगीजन, भोगपतिक, भोगीरूप, महाभोगी, वृहद्भोगी, वृहद्भोगिका, राजा, राजराजनायक, राजपुत्र, राजवल्लभ, ठाकुर, सामन्त, महासामन्त, मण्डलिका आदि कहा जाता था। उनका प्रथम दायित्व सैनिक-सेवा प्रदान करना था। वे कर वसूलते थे तथा किसानों से बेगार लेते थे। उन्हें किसानों को जमीन से बेदखल करने का भी अधिकार था। मालवा, गुजरात, राजस्थान और महाराष्ट्र में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। सामन्तीकरण (infeudation) की भी प्रथा प्रचलित थी। प्रायः एक सामन्त अपनी जागीर का कुछ भाग दूसरे को देकर उसे सामन्त बना लेता था। इस तरह सामन्तवादी व्यवस्था में छोटे-बड़े सामन्तों की एक बड़ी शृंखला थी। इस व्यवस्था में जागीरदार तो खुशहाल थे, किन्तु कृषक और अर्द्धकृषक बेहाल थे। यह व्यापार-व्यवसाय का अवनति-काल था।

भारतीय सामन्तवाद के ऐतिहासिक योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रथम, भूमिदान के फलस्वरूप मध्य भारत, उड़ीसा और पूर्वी बंगाल में अकृष्टपूर्व भूमि (virgin land) को आबाद किया गया। दक्षिण भारत के बारे में भी यही कहा जा सकता है। कृषि का बड़ा विस्तार हुआ। आदिवासी क्षेत्रों में ब्राह्मणों को बड़ी-बड़ी जागीरें दी गईं। इन साहसिक ब्राह्मणों ने कृषि-विस्तार तथा आदिवासियों के जीवन-स्तर को ऊँचा करने में बड़ा योगदान दिया। उन्होंने उन्हें गौ-हत्या को पाप-तुल्य बतलाया। गो-संरक्षण कृषि के लिए आवश्यक कहा गया। किसानों को हल-बैल, खाद, सिंचाई की सुविधाएँ, मौसम विशेष व नक्षत्र में कृषिकार्य करने आदि के बारे में बतलाया गया। कृषिज्ञान की बातें कृषि-प्रसार में संकलित की गईं। द्वितीय, जागीरदार अपनी-अपनी जागीर में शांति-व्यवस्था बनाए रखने तथा अन्य प्रशासनिक कार्यों का सम्पादन करने लगे। ब्राह्मण जागीरदार अपने अपने राजाओं का यशोगान करने लगे तथा उन्हें सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी बतलाया। गैर-ब्राह्मण जागीरदार अपने प्रभु की जागीर का प्रशासन करते तथा आवश्यकता पड़ने पर प्रभु की सैनिक सेवा करते थे। तृतीय, भूमिदान के फलस्वरूप आदिवासियों का संस्कृतीकरण या ब्राह्मणीकरण हुआ। उन्हें लिपि, पंचांग, कला, साहित्य आदि से परिचित कराया गया। इस रूप में सामन्तवाद ने देश को सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। ब्राह्मणों के आदि स्थान मध्यदेश और तिरभुक्ति थे। उन्हें वहाँ से बंगाल, उड़ीसा, मध्य भारत आदि स्थानों में बुलाया गया और जागीर दी गई। अतः सांस्कृतिक आदान-प्रदान सम्भव हो सका। फलतः पूरे देश में एकसमान सामाजिक व्यवस्था कायम हुई। चतुर्थ, सामन्तवाद ने राजनीतिक दृष्टिकोण से देश को खंडित कर दिया। देश की विशालता तथा अविकसित आवागमन के साधनों के फलस्वरूप स्थानीय सामंत स्थानीय राजे बन गए तथा उन्होंने अपने को केन्द्रीय सत्ता या अपने प्रभु से स्वतंत्र घोषित कर दिया। पंचम, सामंतवाद ने समाज में शोषक और शोषित वर्गों को जन्म दिया। शोषक वर्ग में सामंत, जागीरदार था तथा शोषित वर्ग में किसान व अर्द्धकृषक। वर्ग-संघर्ष और विद्रोह की अग्नि प्रायः फूटती रहती थी। इससे सामाजिक परिवर्तन होता रहता था। तंग आकर शोषित किसान अकृष्टपूर्व क्षेत्र में चले जाते थे तथा नई बस्ती कायम कर लेते थे।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय सामंतवाद कई चरणों से होकर गुजरा। गुप्तकाल में ब्राह्मण तथा मन्दिरों को भूमि दान में दी गई। पालों, प्रतिहारों तथा राष्ट्रकूटों के काल में भूमिदान के अनेक उदाहरण मिलते हैं। प्रारम्भिक काल में केवल भोगाधिकार (usufructuary rights) दिए जाते थे, किन्तु आठवीं सदी से आदाताओं को स्वामित्व अधिकार भी दिए जाने लगे। 11वीं तथा 12वीं शताब्दियों में भूमिदान की प्रक्रिया चरम सीमा पर पहुँच गई। इस समय उत्तर भारत कई राजनीतिक तथा आर्थिक इकाइयों में बँट गया था।

पश्चिम और दक्षिण भारत में व्यापार तथा नगरों के उदय ने सामंतवाद को प्रभावित किया।[1]